
इकाई 15 अर्थप्रकृतियाँ और कार्यावस्थायें

इकाई की रूपरेखा

- 15.0 उद्देश्य
- 15.1 प्रस्तावना
- 15.2 अर्थप्रकृतियाँ तथा कार्यावस्थाएं
- 15.3 अर्थप्रकृतियों के भेद
 - 15.3.1 बीज
 - 15.3.2 बिन्दु
 - 15.3.3 पताका
 - 15.3.4 प्रकरी
 - 15.3.5 कार्य
- 15.4 कार्यावस्थाओं के भेद
 - 15.4.1 आरम्भ
 - 15.4.2 यत्न
 - 15.4.3 प्राप्त्याशा
 - 15.4.4 नियताप्ति
 - 15.4.5 फलागम
- 15.5 सारांश
- 15.6 शब्दावली
- 15.7 सहायक ग्रन्थ
- 15.8 बोध प्रश्न

15.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप दशरूपक में वर्णित निम्न विषयों को जान सकेंगे –

- अपने नाट्यशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान में वृद्धि कर सकेंगे।
- नाटकादि में प्रयोजन की सिद्धि के उपायभूत अर्थप्रकृति के स्वरूप को जान पाएंगे।
- अर्थप्रकृति के भेदों के सोदाहरण समझ सकेंगे।
- कार्यावस्था के स्वरूप को जान पाएंगे।
- कार्यावस्था के भेदों को सोदाहरण समझ सकेंगे।
- अर्थप्रकृतियों तथा कार्यावस्थाओं के महत्व तथा रूपकों में उनके प्रयोग को जान सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम के अन्तर्गत खण्ड संख्या=03 में निर्धारित दशरूपक से सम्बन्धित यह अग्रिम इकाई है। पूर्व की इकाई में आपने दश रूपक ग्रन्थ के प्रयोजन,

रूपक के भेद एवं भेदक तत्व, कथावस्तु तथा उनके भेद के विषय में अध्ययन कर चुके हैं। इस इकाई में आप क्रमानुसार प्राप्त अर्थप्रकृतियों तथा कार्यावस्थाओं का अध्ययन करेंगे।

नाटकादि रूपकों के तीन भेदक तत्वों में परिगणित कथावस्तु के बहिरंग विश्लेषण हेतु अर्थप्रकृतियों तथा अंतरंग विश्लेषण हेतु कार्यावस्थाओं का अनुशीलन आवश्यक होता है। वस्तुतः रूपक की कथावस्तु को किसी प्रख्यात उपजीव्य ग्रन्थ से ग्रहण करने पर भी कवि को रंगमंच की दृष्टि से मूल कथा में कलात्मकता, औत्सुक्य तथा प्रभावोत्पादकता का आधान करने के लिए उसमें परिवर्तन व परिवर्धन करने पड़ते हैं। इस प्रयोजन की सिद्धि हेतु उसे दशरूपक में प्रदर्शित मार्ग = अर्थप्रकृतियों, कार्यावस्थाओं तथा संधियों का अनुसरण करना आवश्यक है।

वस्तुतः कथावस्तु से साक्षात् सम्बन्धित होने के कारण समस्त कार्य व्यवहार के फल का अधिकारी नेता होता है। इस साध्य प्रयोजन की सिद्धि की हेतु अथवा उपाय अर्थप्रकृतियाँ होती हैं तथा फल की प्राप्ति के लिए नायक जिस कार्य-व्यापार का आश्रय लेता है, उसकी अवस्थाएं ही कार्यावस्थाएं कहीं गई हैं।

इन अर्थप्रकृतियों तथा कार्यावस्थाओं का क्या स्वरूप है? रूपकों में इनका क्या उपयोग है? इनके कितने भेद हैं? इत्यादि विषयों पर इस इकाई में हम चर्चा करेंगे।

15.2 अर्थप्रकृतियों तथा कार्यावस्थाएं

जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते तथा विनश्यति आदि षड्भाव विकार की तरह ही कथावस्तु की भी विभिन्न अवस्थाएं होती हैं। आचार्य भरत के मतानुसार फल की प्राप्ति के लिए नायक के द्वारा किया जाने वाला उद्योग ही कार्यावस्था है। यह नेता के व्यक्तित्व के क्रमिक विकास को भी प्रदर्शित करती हैं।

रूपकों में नेता के द्वारा साध्य फल की प्राप्ति करने के लिए जिस कार्य-व्यापार का प्रसार किया जाता है, उसे कार्यावस्था कहते हैं। ये कार्यावस्थाएं उसकी गतिविधि की सूचक कही जा सकती हैं। प्रत्येक नाटक में इनका विधान किया जाता है। कार्यावस्था का स्वरूप स्पष्ट करते हुए दशरूपक में कहा गया है—

“अवस्थाः पंच कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः।

आरम्भ—यत्न—प्राप्त्याशा—नियताप्ति—फलागमाः ॥ (1/19)

अर्थात् रूपकों में फल की अभिलाषा रखने वाले नेता के द्वारा प्रारम्भ किए गए कार्य-व्यापार की आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम नामक पाँच अवस्थाएं होती हैं।

उक्त पाँच कार्यावस्थाओं के अनुशीलन से ज्ञात होता लोक के व्यवहार से प्रभावित रूपकों में मानव के जीवन की तरह नायक को भी निश्चित फल-प्राप्ति के लिए अनेक संघर्षों का सामना करना पड़ता है। नाटकीय घटनाक्रम में वह निर्बाध = सहज गति से अपने अभीष्ट लक्ष्य तक नहीं पहुँचता है, अपितु एतदर्थ उसे आने वाले अवरोधों को समाप्त करना पड़ता है। यह संघर्ष नाटकों में औत्सुक्य उत्पन्न करने वाला महत्वपूर्ण कारक है। संघर्ष जितना गहन होगा वह रूपक भी उतना ही हृदयावर्ज तथा प्रभावोत्पादक होगा। आप इसे महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल अथवा महाकवि भवभूति के उत्तररामचरित की प्रसिद्धि का एक मुख्य कारण कह सकते हैं।

पात्रों की मानसिक वृत्तियों में दो या अधिक विरोधी विचारों का द्वन्द्व बाह्य घटनाओं के संघर्ष की अपेक्षा गहन या सूक्ष्म होता है। जहा मानसिक द्वन्द्व जितना सूक्ष्म होगा वहाँ रस का ग्रहण उतना ही अधिक होता जाएगा।

इसी तरह कथावस्तु के अभीष्ट लक्ष्य = फल की प्राप्ति तक जाने के लिए नाट्यकार द्वारा नाटकादि रूपकों में जो उपाय निबद्ध किए जाते हैं, उन्हें अर्थप्रकृति कहते हैं। अर्थप्रकृति का अर्थ स्पष्ट करते हुए आचार्य धनिक ने अपनी वृत्ति में लिखा है = "अर्थप्रकृतयः प्रयोजन सिद्धि हेतवः।।" अर्थात् अर्थप्रकृति से तात्पर्य उन तत्त्वों से है, जो प्रयोजन की सिद्धि के कारण होते हैं। वस्तुतः ये अर्थप्रकृतियाँ कथावस्तु के उपादान कारण कही जा सकती हैं, जिनका प्रत्यक्ष संबंध कथावस्तु के फल के साथ रहता है।

साधारण रूप से हम कह सकते हैं कि अर्थप्रकृति शब्द में अर्थ पद से तात्पर्य नाट्यार्थ है तथा प्रकृति पद से तात्पर्य उपाय है। इस प्रकार अर्थप्रकृतियाँ रूपक की कथावस्तु से संबंध रखती हैं। आप इसे नाटकादि कथानक का भौतिक विभाजन कह सकते हैं। इससे भिन्न कार्यावस्थाएं नेता की मानसिक दृष्टि से कथावस्तु का मनोवैज्ञानिक विभाजन हैं। अर्थप्रकृतियाँ कथावस्तु के प्रयोजन की सिद्धि में कारण होती हैं। ये कथावस्तु के उन तत्त्वों में परिगणित की जाती है जो कथावस्तु को पूर्णता की तरफ ले जाती है। अभिनवगुप्त ने इनका स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है – " अर्थः फलं तस्य प्रकृतयः उपायाः फलहेतव इत्यर्थः।। अर्थात् अर्थप्रकृतियाँ नाटकादि दस रूपकों में नेता के प्रयोजन की सिद्धि का उपाय होता है। रूपकों की स्वरूपाधायक इतिवृत्त में परिणामोत्पादकता, सम्बद्धता तथा प्रमाणबद्धता उत्पन्न करने का महत्वपूर्ण कार्य अर्थप्रकृतियों के द्वारा सम्पादित किया जाता है। इन अर्थप्रकृतियों तथा कार्यावस्थाओं का महत्व इस दृष्टि से भी है कि नाटकादि में प्रयोग की जाने वाली मुख-प्रतिमुख-गर्भ-विमर्श-उपसंहति नामक सन्धियों का निर्माण भी इनके मेल से होता है। इनके अभाव में रूपकों की रचना सम्भव नहीं है। हम जितने भी नाटक आदि रूपकों को देखते या पढ़ते हैं। इनकी उपस्थिति से ही प्रभावशाली तथा हृदयावर्जक होते हैं। इस प्रकार रूपकों में इन दोनों का अत्यधिक महत्त्व है।

15.3 अर्थप्रकृतियों के भेद

अर्थप्रकृति के स्वरूप का अध्ययन आप कर चुके हैं। अब हम इनके भेदों का अध्ययन करेंगे। अर्थप्रकृति को पाँच भागों में विभक्त किया गया है। दशरूपक में अर्थप्रकृतियों के भेदों का उल्लेख निम्न कारिका में किया गया है =

“बीज बिन्दु पताकाख्य प्रकरी कार्य लक्षणाः।

अर्थप्रकृतयः पंच ता एताः परिकीर्तिताः।। (1/18)

अर्थात् बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य नामक अर्थप्रकृतियों के पाँच भेद होते हैं। अब आप इन पाँचों भेदों के लक्षण और उदाहरणों का क्रमशः अध्ययन करेंगे।

15.3.1 बीज

जिस प्रकार आप भौतिक जगत में एक सामान्य छोटे से बीज से विशाल वृक्ष एवं उस वृक्ष में फल की उत्पत्ति देखते हैं। उसी प्रकार नाट्यशास्त्र में बीज अर्थप्रकृति की स्थिति होती है। जैसे बीज में फल छिपा रहता है, वैसे ही बीज नामक अर्थप्रकृति में

रूपक का फल अन्तर्निहित होता है। बीज का स्वरूप स्पष्ट करते हुए दशरूपक में कहा गया है—

“स्वल्पोदिदष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा ॥ (1/17)

स्तोकोदिदष्टः कार्यसाधकः पुरस्तादनेकप्रकारं विस्तारी हेतुविशेषो बीजवद् बीजम् ॥”

अर्थात् नाटकादि रूपकों के प्रारम्भ में स्वल्प रूप में सङ्केतित वह तत्त्व, जो फल का हेतु होता है तथा अनेक प्रकार से विस्तार को प्राप्त करता है, वह बीज कहा जाता है। इस बीज का कथन पहले संक्षेप में किया जाता है, बिल्कुल उसी तरह जिस प्रकार भूमि में सूक्ष्म बीज का वपन किया जाता है। रूपक में जैसे-जैसे कार्य-व्यापार आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे यह बीज विस्तार को प्राप्त करता है। आप इसे इस तरह भी समझ सकते हैं कि जैसे भौतिक जगत में बीज के बिना फल की प्राप्ति असम्भव है, वैसे ही नाटकादि रूपकों में बीज अर्थप्रकृति के अभाव में फल की प्राप्ति सम्भव नहीं हो सकती है। बीज का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए दशरूपक में उल्लिखित है =

“यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुरनुकूलकदैवो यौगन्धरायणव्यापारो विष्कम्भके न्यस्तः = यौगन्धरायणः= कः सन्देहः (द्वीपादन्यस्मात्,... इति पठति), इत्यादिना प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धि हेतौ इत्यन्तेन। यथा च वेणीसंहारे द्रौपदीकेशसंयमनहेतुर्भीमक्रोधोपचितयुधिष्ठिरोत्साहो बीजमिति ॥”

यहाँ बीज को दो उदाहरणों से स्पष्ट किया गया है। प्रथम उदाहरण रत्नावली नाटिका का है। रत्नावली नाटिका में कथावस्तु का कार्य नायक उदयन व रत्नावली का मिलन कराना है। रत्नावली के विष्कम्भक में मन्त्री यौगन्धरायण की इस कार्य को पूर्ण कराने की चेष्टा जिसे भाग्य की सहायता भी प्राप्त है, बीज रूप में उपस्थापित की गई है। मन्त्री यौगन्धरायण “क्या सन्देह है?” यह कहते हुए “अनुकूल हुआ भाग्य अभिलिषित वस्तु को अन्य द्वीप से, समुद्र के मध्य से तथा दिशाओं के अन्त से अर्थात् कहीं से भी लाकर प्राप्त करा देता है।” इस कथन को “द्वीपादन्यस्मादपि.....” इस श्लोक से लेकर “प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो.....” अर्थात् “अपने राजा की उन्नति के कार्य को प्रारम्भ कर भाग्य के अनुकूल रहने पर मैं अपने इस कार्य में सफलता प्रारम्भ करूंगा, इस कथन तक नाटिका में बीज अर्थप्रकृति का उपस्थापन किया गया है। इसी पर वत्सराज उदयन को सागरिका की प्राप्ति होना निर्भर है।

एक अन्य उदाहरण के रूप में आप वेणीसंहार नाटक का अवलोकन कर सकते हैं। इस प्रख्यात नाटक का प्रयोजन द्रौपदी का केश-संयमन है। नाटक के प्रारम्भ में भीम के कथन “स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः.....” से आरम्भ करके “क्रोधज्योतिरिदं महत्कुरुवने यौधिष्ठिरं जम्भते।” पर्यन्त बीज अर्थप्रकृति की रूपरेखा ही सन्निहित है। यहाँ भीम के क्रोधावेग से परिपुष्ट युधिष्ठिर का युद्धोत्साह द्रौपदी के खुले हुए केशों के संयमन का निदान है, जिसकी बीज के रूप में नाटककार के द्वारा योजना की गई।

15.3.2 बिन्दु

अर्थप्रकृतियों में दूसरा क्रम बिन्दु अर्थप्रकृति का है। “बिन्दुरिव बिन्दुः” अर्थात् बिन्दु अर्थप्रकृति सामान्य जल या तैल आदि के बिन्दु के समान होती है। आचार्य धनिक ने अवलोकवृत्ति में “बिन्दुः जले तैलबिन्दुवत् प्रसारित्वात्” अर्थात् जल में तैल बिन्दु के सदृश इसका प्रसार नाटकादि में बताया है। आपने देखा होगा कि जिस प्रकार जल से भरे पात्र में तैल की एक बिन्दु गिराने पर वह किस प्रकार उस जल की सतह के

ऊपर फैल जाती है। बिल्कुल उसी प्रकार बिन्दु अर्थप्रकृति की रूपक में स्थिति रहती है। बिन्दु का स्वरूप स्पष्ट करते हुए दशरूपक में उल्लेख है =

“अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छदकारणम्।।

यथा रत्नावल्यामवान्तर प्रयोजनानङ्गपूजापरिसमाप्तौ कथार्थविच्छेदे सत्यनन्तरकार्यहेतु = उदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते। सागरिका (श्रुत्वा) = कहं एसो सो उदयणणरिन्दो जस्स अहं तादेण दिण्णा (कथमेष स उदयननरेन्द्रो यस्याहं तातेन दत्ता) इत्यादि।।”

अर्थात् किसी अन्य कथा = अर्थ से विच्छिन्न होने पर कथावस्तु को पुनः जोड़ने का कारण बिन्दु कहा जाता है। यह अच्छेद का कारण बिन्दु कथावस्तु में आगे जाकर उसी प्रकार प्रसारित होता है, जैसे आप जल में तैल के बिन्दु को फैला हुआ देखते हैं।

वस्तुतः नाटकादि में जब कथावस्तु का प्रवाह अभीष्ट दिशा से अलग अन्य दिशा में परिवर्तित होने लगता है, तब कुशल रचनाकार नायक, नायिका अथवा अन्य पात्रों की सहायता से उसे अपेक्षित दिशा में ले जाने का प्रयत्न करता है। इस स्थिति में जो प्रसंग कारण बनकर बीज की भंग होती कथा को आगे बढ़ाने में सहायक होता है, उसे बिन्दु कहते हैं।

बिन्दु अर्थप्रकृति को आप रत्नावली नाटिका के एक उदाहरण से समझ सकते हैं। रत्नावली नाटिका में महारानी वासवदत्ता के द्वारा कामदेव की पूजा करना एक अवान्तर कथावृत्त है। इसके उपरान्त कथा में विश्रंखला आ जाती है तथा एक अर्थ समाप्त हुआ प्रतीत होता है। इसे पुनः श्रंखलाबद्ध अथवा संश्लिष्ट करने के लिए बिन्दु का विधान किया जाता है। “अस्तापास्त समस्तभासि.....उदयनस्येदोरिवोद्वीक्षते।” इस उक्ति के श्रवण से रत्नावली, जो सागरिका के रूप में वत्सराज उदयन के यहाँ रह रही थी, के द्वारा “कथमेष स उदयननरेन्द्रो यस्याहं तातेन दत्ता” अर्थात् क्या ये वही राजा उदयन हैं, जिनके लिए पिताजी ने मुझे दे दिया है? इस कथन से विच्छिन्न होती हुई कथा का सन्धान करा दिया गया। रत्नावली का यह प्रसंग विच्छेद का निराकरण कर, कथावस्तु को आगे की कडी से जोड़ने का निमित्त है। जो नाटिका की समाप्ति पर्यन्त विद्यमान दिखाई देता है। इसे हम बिन्दु कह सकते हैं।

15.3.3 पताका

अर्थप्रकृतियों में तृतीय स्थान पर पताका की गणना होती है। आपने पूर्व में वस्तु के भेदों के अन्तर्गत पताका के विषय में अध्ययन किया है। कथावस्तु के आधिकारिक तथा प्रासङ्गिक दो भेदों में से प्रासङ्गिक कथावस्तु के पुनः दो भेद होते हैं, जिसमें एक पताका है।

पताका नाट्य की कथावस्तु का वह उपकथानक होता है, जिसका नेता आधिकारिक कथावस्तु के मुख्य नेता को सहयोग प्रदान करते हुए स्वयं के लक्ष्य की प्राप्ति भी कर लेता है। पताका का स्वरूप स्पष्ट करते हुए दशरूपक में निर्दिष्ट है=

“सानुबन्धं पताकाख्यम्.....।

दूरं यदनुवर्तते प्रासङ्गिकं सा पताका सुग्रीवादिवृत्तान्तवत्, पताकेवासाधारणनायक—चिह्नवत् तदुपकारित्वात्।”

अर्थात् अनुबन्ध से युक्त जो प्रासङ्गिक कथावस्तु नाटिकादि में दूर तक चलती है, उसे पताका कहते हैं। यह नायक के पताकाचिह्न की तरह मुख्य कथावस्तु तथा नायक की पोषक होती है। पताका अर्थप्रकृति को आप रामायण के उदाहरण से समझ सकते हैं। रामायण में नायक राम की आधिकारिक कथावस्तु मुख्य है। इस कथावस्तु में सुग्रीव की कथा पताका कही जा सकती है। यह कथा मुख्य नायक को फल-प्राप्ति में सहायता प्रदान करते हुए दूर तक साथ में चलती है। इसी तरह आप रामायण से ही विभीषण के वृत्तान्त का ग्रहण कर सकते हैं, जो आधिकारिक कथा तथा नायक राम की पोषक है।

15.3.4 प्रकरी

चतुर्थ अर्थप्रकृति प्रकरी है। पताका के समान आपने पूर्व में वस्तु के भेदों के अन्तर्गत इसका अध्ययन किया है। यह प्रासङ्गिक कथावस्तु के दो भेदों में से एक है। पताका अनुबन्ध से युक्त होती है किन्तु प्रकरी अनुबन्ध से हीन होती है। इसका उद्देश्य भी पताका की तरह आधिकारिक कथावस्तु को सहायता देना है। **“प्रकर्षेण स्वार्थानपेक्षया करोतीति प्रकरी”** अर्थात् जिस कथावस्तु में फल की प्राप्ति आधिकारिक कथा के नायक की अपेक्षा अथवा सहयोग लिए बिना होती है वह प्रकरी है, प्रकरी का लक्षण दशरूपक में निम्नवत् है—

“प्रकरी च प्रदेशभाक् ।।”

अर्थात् जो कथा एक प्रदेश तक ही सीमित रहती है उसे प्रकरी कहते हैं। यह पताका अर्थप्रकृति की तरह अधिक दूर तक नहीं अपितु थोड़ी दूर तक ही चलती है। इसकी कथा स्वार्थ-निरपेक्ष रहती है। इसका कथानक रूपक में प्रदेशभाक्= एक ही स्थान पर रखा जाता है तथा उसी स्थान पर उसकी समाप्ति भी हो जाती है। मुख्य रूप से पताका और प्रकरी में यही अन्तर है। प्रकरी को आप रामायण के शबरी वृत्तान्त के उदाहरण से समझ सकते हैं। भगवान राम के वनवास काल में शबरी का कथानक प्रारम्भ होता है तथा वहीं समाप्त हो जाता है। शबरी की कथा सुग्रीव अथवा विभीषण के वृत्तान्त की तरह दूर तक नहीं चलती है। इन उदाहरणों से आप पताका और प्रकरी में वैषम्य को समझ सकते हैं।

15.3.5 कार्य

अर्थप्रकृतियों में पाँचवी तथा अन्तिम अर्थप्रकृति कार्य है। इसका व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है=“कार्यते फलमिति कार्यम्”। कार्यवस्तु की सफलता के लिए रूपकों में कार्य नामक अर्थप्रकृति की योजना आवश्यक होती है। इसका स्वरूप बताते हुए दशरूपक में उल्लेख है =

“कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च ।

धर्मार्थकामाः फलं तच्च शुद्धमेकैकानुबन्धि च ।।”

अर्थात् धर्म, अर्थ तथा काम यह त्रिवर्ग कार्य = फल है। यह इन धर्म, अर्थ तथा काम में से कभी एक भी हो सकता है, कभी इनमें से कोई दो अथवा ये तीनों भी हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि कथावस्तु में कार्य अर्थप्रकृति वह होती है जहाँ नायक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् जिस साध्य की प्राप्ति के लिए यत्न किया जाता है, जो नाटकादि रूपकों में फल होता है, वही कार्य अर्थप्रकृति होती है।

15.4 कार्यावस्थाओं के भेद

अर्थप्रकृतियों के अध्ययन के पश्चात् अब क्रमानुसार प्राप्त कार्यावस्थाओं का अध्ययन किया जाएगा। कार्यावस्थाओं के स्वरूप से आप परिचित हो चुके हैं। आगे हम कार्यावस्था के भेदों की चर्चा करेंगे। दशरूपक में कार्यावस्था के भेदों का वर्णन करते हुए लिखा है =

“अवस्थाः पंच कार्यस्य प्रारम्भस्य फलार्थिभिः।

आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्ति फलागमाः।।” (1/19)

अर्थात् फलार्थी नेता के द्वारा प्रारम्भ किए गए कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं— 1. आरम्भ 2. यत्न 3. प्राप्त्याशा 4. नियताप्ति 5. फलागम। वस्तुतः कार्य की सिद्धि हेतु नेता की प्रवृत्ति का विश्लेषणात्मक चित्र इस अवस्थापंचक से स्वरूप प्राप्त करता है। अब हम क्रमशः इन पाँचों कार्यावस्थाओं के स्वरूप का उदाहरणों सहित अध्ययन करेंगे।

15.4.1 आरम्भ

रूपकों में कथा का प्रारम्भ आरम्भ अवस्था है। कथावस्तु के प्रारम्भ में जहाँ बीज के औत्सुक्य का क्रियान्वयन किया जाता है, उस स्थिति को आरम्भ कहते हैं। दशरूपक में आरम्भ का स्वरूप बताते हुए कहा गया है—

“ औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे।।

इदमहं संपादयामीत्यध्यवसायमात्रमारम्भ इत्युच्यते। यथा रत्नावल्याम्= प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ दैवो चेत्यं दत्तहस्तावलम्बे। इत्यादिना सचिवायत्तसिद्धेर्वत्सराजस्य कार्यारम्भा यौगन्धरायणमुखेन दर्शितः।।”

अर्थात् नायकादि पात्रों में अत्यन्त फललाभ की उत्सुकता का उत्पन्न होना आरम्भ अवस्था है। नाटकादि के प्रारम्भ में नायकादि के मन में यह उत्सुकता उत्पन्न हो कि मैं इस कार्य को करूँ, इस उत्सुकता मात्र को ही आरम्भ कहा जाता है। इसमें फल की प्राप्ति की चेष्टा करना सम्मिलित नहीं है, क्योंकि के लाभ के लिए चेष्टा करना पृथक् अवस्था है, जिसे आगे 'यत्न' नाम्ना अभिहित किया गया है। इस कार्यावस्था को सरल रूप से समझाने के लिए आचार्य धनिक ने अपनी अवलोक टीका में 'रत्नावली' नाटिका का उदाहरण प्रस्तुत किया है। जहाँ वत्स देश के मन्त्री यौगन्धरायण ने “प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ.....” अर्थात् अपने स्वामी= राजा की उन्नति के लिए किए गए तथा भाग्य के द्वारा सहारा दिए गए इस कार्य में.....” इत्यादि कथन के द्वारा कार्यारम्भ की सूचना देते हुए फल की प्राप्ति के लिए उत्सुकता प्रदर्शित की है। यहाँ फलप्राप्त्यर्थ मन्त्री यौगन्धरायण की यह उत्सुकता ही आरम्भ कार्यावस्था की सूचक है।

15.4.2 यत्न

आरम्भ के पश्चात् द्वितीय कार्यावस्था यत्न है। नाटकादि में फल प्राप्ति की उत्सुकता उत्पन्न होने के पश्चात् योजनायुक्त कार्य—व्यापार में प्रवृत्त होना द्वितीय कार्यावस्था 'यत्न' है। आप इसे प्रथम कार्यावस्था 'आरम्भ' की उत्तरावस्था भी कह सकते हैं। दशरूपक में यत्न कार्यावस्था का लक्षण निर्देशित करते हुए कहा गया है=

“प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारो-तित्वरान्वितः ।।

तस्य फलस्याप्राप्तावुपाययोजनादिरूपश्चेष्टाविशेषः प्रयत्नः । यथा रत्नावल्यामालेख्या-
भिलेखनादिवत्सराजसमागमोपायः = तहावि णात्थि अण्णो दंसणुवाओ त्ति जहा-तहा
आलिहिअ जधासमीहिअं करिस्सम् । (तथापि नास्त्यन्यो दर्शनोपाय इति यथा-तथालिख्य
यथासमीहितं करिष्यामि) इत्यादिना प्रतिपादितः ।।”

अर्थात् नाटकादि रूपकों की कथावस्तु में अपेक्षित फल की प्राप्ति न होने पर, उसे प्राप्त करने के लिए अत्यधिक शीघ्रता के साथ कार्य-व्यापार में प्रवृत्त होना अथवा चेष्टा करना यत्न नामक कार्यावस्था है। इस कार्यावस्था में नायक या नायिका अपने अभिलषित फल की प्राप्ति के लिए संलग्न हो जाते हैं। जिस प्रकार रत्नावली नाटिका में सागरिका का चित्रलेखन रूपी कार्य में यह कहते हुए प्रवृत्त होना कि वत्सराज उदयन को देखने का और कोई उपाय नहीं है, पुनरपि जैसे-तैसे उनका चित्र बनाकर ही अपनी इच्छा पूर्ण करती हूँ। इस कथन के द्वारा रत्नावली नाटिका में यत्न अर्थप्रकृति की योजना नाटककार के द्वारा की है। क्योंकि नायिका रत्नावली, जो नाटिका में सागरिका बनकर वत्सराज के अन्तःपुर में छिपकर रह रही है, उसका तथा उदयन का मिलन ही नाटिका का फल है। रत्नावली उदयन को प्रेम करती है व उसे पाना चाहती है। एतदर्थ वह योजना बनाकर चित्रलेखन कार्य में प्रवृत्त होती है। इसके अतिरिक्त 'रामचरित' में समुद्रबन्धन आदि कार्य में प्रवृत्त होना भी यत्न कार्यावस्था का उदाहरण है।

15.4.3 प्राप्याशा

कार्यावस्थाओं में तृतीय स्थान पर 'प्राप्याशा' का क्रम है। सामान्यरूप से यह अवस्था नायक के अन्तर्द्वन्द्व तथा बहिर्द्वन्द्व की परिचायक कही जा सकती है। यह द्वन्द्व ही रूपकों में कौतुहल का आधायक होता है। सरल शब्दों में हम कह सकते हैं कि इस कार्यावस्था में इच्छित फल को पाने की आशा उत्पन्न होती है, किन्तु साथ में विफलता का संशय भी बना रहता है। दशरूपक में प्राप्याशा का लक्षण बताते हुए कह गया है=

“उपायापायशंकाकभ्यां प्राप्याशाप्राप्तिसम्भवः ।।”

“ उपायस्यापायशंकाकयाश्च भावादिनिर्धारितैकान्ता फलप्राप्तिः प्राप्याशा । यथा रत्नावल्यां तृतीये-ङ्के वेषपरिवर्ताभिसरणादौ समागमोपाये सति वासदत्तालक्षणापायशंकायाः= एवं यदि अआलवादाली विअ आअच्छिअ अण्णदो ण णइस्सदि वासवदत्ता । (एवं यद्यकालवातावलीवागत्यान्यतो न नेष्यति वासवदत्ता) इत्यादिना दर्शितत्वादिनिर्धारितैकान्ता समागमप्राप्तिरुक्ता ।।”

अर्थात् जहाँ उपाय तथा अपाय= विघ्न की आशंका समुपस्थित होने के कारण नायक आदि को अभिलषित फल की प्राप्ति होने के विषय में ऐकान्तिक निश्चय नहीं दिखता है, वहाँ प्राप्याशा नामक कार्यावस्था होती है। इसमें फलप्राप्ति की सम्भावना उपाय तथा विघ्नाशंका दोनों के मध्य दोलायमान सी रहती है। नायक का मन द्वन्द्व से आशिङ्कत रहता है। वह फलालाभार्थ अपने उपायों का क्रियान्वयन तो कर देता है, किन्तु विघ्न समुपस्थित होने के कारण सफलता को लेकर पूर्ण रूप से विश्वस्त नहीं रहता है। यह स्थिति नाटक आदि में कौतुहल तथा रोमांच उत्पन्न करती है। संघर्षजन्य यह कौतुहल व रोमांच ही नाटकादि का प्राण है। उदाहरण स्वरूप रत्नावली

नाटिका के तृतीय अङ्क में नायिका रत्नावली महारानी वासवदत्ता का वेष धारण कर वत्सराज उदयन से अभिसार रूप सङ्गम के उपाय होने पर भी विदूषक के “यदि अकाल वायु की तरह आकर वासवदत्ता दूसरी ओर न ले जाए” इत्यादि कथन के द्वारा वासवदत्ता जन्य विघ्न की आशंका होने से फलप्राप्ति के प्रति आशङ्कित हो जाती है। इस उदाहरण में नायिका रत्नावली को नायक उदयन की प्राप्ति के उपाय तथा अपाय = विघ्न दोनों का चित्रण होने से प्राप्याशा कार्यावस्था की स्पष्ट प्रतीति होती है। इसे आप महाकवि कालिदास के द्वारा रचित अभिज्ञानशाकुन्तल के उदाहरण से भी समझ सकते हैं। अभिज्ञानशाकुन्तल में नायक दुष्यन्त तथा नायिका शकुन्तला के मिलन रूपी फल में दुर्वासा ऋषि का शाप विघ्न बन जाता है। पुनः चतुर्थ अङ्क के विष्कम्भक में उनके क्रोध के शान्त होने से प्राप्याशा की स्थिति बनती है। इस प्रकार नाटकादि में कवि के द्वारा कुशलता पूर्वक प्राप्याशा कार्यावस्था की योजना की जाती है।

15.4.4 नियताप्ति

कार्यावस्थाओं में चतुर्थ क्रम में आप नियताप्ति का अध्ययन करेंगे। विगत प्राप्याशा कार्यावस्था में जहाँ फल की प्राप्ति को लेकर नायकादि के मन में अनिश्चय की भावना रहती है, उससे विपरीत इस कार्यावस्था में फल की समुपलब्धि निश्चित हो जाती है। दशरूपक में नियताप्ति का लक्षण निम्नवत् उल्लिखित है=

“अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता ॥

अपायाभावदवधारितैकान्ता फलप्राप्तिर्नियताप्तिरिति। यथा रत्नावल्याम् = सागरिका दुष्करं जीविस्सदि, (सागरिका दुष्करं जीविष्यति।) इत्युपक्रम्य किं ण उपायं चिन्तेसि? (किं नोपायं चिन्तयसि?) इत्यनन्तरं ‘राजा = वयस्य! देवीप्रसदनं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि। इत्यनन्तरांकार्थ – बिन्दुनानेन देवीलक्षणापायस्य प्रसादनेन निवारणान्नियता फलप्राप्तिः सूचिता ॥”

अर्थात् प्राप्याशा के पश्चात् जब विघ्न का अभाव होने के कारण नायकादि को फल की प्राप्ति का निश्चय हो जाए, तब नियताप्ति कार्यावस्था होती है। विगत कार्यावस्था प्राप्याशा में आपने देखा है कि उपाय व अपाय के कारण नायक फलप्राप्ति के लेकर सशङ्कित रहता है। किन्तु इस कार्यावस्था में विघ्नों का शमन होने से उसके मन में यह निश्चय हो जात है कि फल की प्राप्ति अवश्य होगी। इसमें फल की प्राप्ति को लेकर नायक के मन में द्वन्द्व की स्थिति नहीं रहती है। जिस प्रकार रत्नावली नाटिका के तृतीय अङ्क में नायिका रत्नावली को तहखाने में बन्दी बनाए जाने पर विदूषक विचारपूर्वक कहता है कि रत्नावली बहुत कठिनाई से जीवन व्यतीत कर पाएगी। इसके पश्चात् वह राजा उदयन से प्रश्न करता है कि =हे मित्र! आप उसके लिए कोई उपाय क्यों नहीं सोचते? तब राजा कहता है कि = मित्र! अब देवी वासवदत्ता को प्रसन्न करने के अतिरिक्त मुझे कोई अन्य उपाय दृष्टिगत नहीं हो रहा है। इस प्रकार महारानी वासवदत्ता के प्रसादन रूपी उपाय के द्वारा रत्नावली की मुक्ति होने से विघ्नों की निवृत्ति में फलप्राप्ति का निश्चय होता है। यहाँ नाटिकाकार के द्वारा नियताप्ति कार्यावस्था की कुशलतापूर्वक योजना की गई है।

15.4.5 फलागम

अन्तिम कार्यावस्था का नाम फलागम अथवा फलयोग है। जैसे कि आपको नाम से ही स्पष्ट हो रहा है कि इस अन्तिम कार्यावस्था में नायक को फल का आगम= प्राप्ति सुश्चित हो जाती है। इसका लक्षण निबद्ध करते हुए दशरूपक में लिखा है=

अर्थात् नाटकादि में समस्त फल की प्राप्ति हो जाना फलयोग= फलागम कहा जाता है। इस लक्षण में फल-प्राप्ति के साथ प्रयुक्त 'समग्र' पद विशेष अर्थ को अभिव्यक्त करता है। यदि नाटकादि में असमग्र= अपूर्ण फल की प्राप्ति होती हो तब फल योग कार्यावस्था नहीं मानी जाती है। ऐसी स्थिति में उसे नियताप्ति कार्यावस्था में ही परिगणित किया जाएगा। नाटक के अन्त में जब नायक को सम्पूर्ण फल की प्राप्ति हो जाती है, तब ही उसे फलागम कार्यावस्था कहा जा सकता है। जैसे कि रत्नावली नाटिका के अन्त में नाटिका के नायक वत्सराज उदयन को रत्नावली की प्राप्ति तथा उसके फलस्वरूप चक्रकर्तित्व का लाभ होना फलागम की योजना है। क्योंकि इसके पश्चात् नायक को कुछ अन्य फल प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता है। अतः इस स्थिति को ही समग्र फल की प्राप्ति का उदाहरण माना जा सकता है।

15.5 सारांश

इस इकाई में आपने दशरूपक में वर्णित अर्थप्रकृतियों तथा कार्यावस्थाओं का विस्तार से अध्ययन किया है। रूपक की आधारभूत कथावस्तु में सम्बद्धता तथा परिणामकारकता उत्पन्न करने के लिए प्रयोजन की सिद्धि की कारणभूत= बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य नामक पाँच अर्थप्रकृतियों की योजना नाटकादि में की जाती है। वस्तुतः ये कथावस्तु को अभीष्ट लक्ष्य पर्यन्त ले जाने के लिए कवि के द्वारा निबद्ध उपाय हैं। सम्पूर्ण नाटकीय इतिवृत्त इन पाँच अर्थप्रकृतियों में विभक्त होता है। बीज, वृक्ष के बीज के समान वह तत्त्व है, जो नायक को फल की तरफ बढ़ाता है। बिन्दु वह स्थिति है, ज बवह पानी में तैल के बिन्दु की तरह फैलता है। पताका व प्रकरी फल की प्राप्ति में सहायक होते हैं तथा कार्य साध्य होता है।

अर्थप्रकृतियों के साथ-साथ रूपकों में कार्यावस्थाओं का भी समान महत्व है। जिस प्रकार मनुष्य के जीवन में जायते, अस्ति, विपरिणमते आदि अवस्थाएं होती हैं, उसी प्रकार रूपकों में नायकादि के द्वारा प्रारब्ध कार्य-व्यापार की भी आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति एवं फलागम नामक पाँच कार्यावस्थाएं होती हैं। कार्यावस्थाओं के विस्तृत अध्ययन से स्पष्ट होता है कि लोकजीवन से प्रभावित नाटकादि रूपकों में रस तथा रोमांच उत्पन्न करने के लिए इन कार्यावस्थाओं की कुशलतापूर्वक योजना कवि के द्वारा की जाती है।

वस्तुतः नाटकादि में कथावस्तु का प्रवाह सरल व निबोध रूप से नहीं चलता है। उसमें नायकादि को फलप्राप्त्यर्थ आशङ्कओं व विघ्नों से संघर्ष करना पड़ता है। यह संघर्ष जितना गहन होगा रूपक भी उतना ही हृदयवर्जक होगा। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए कवि को दशरूपक ग्रन्थ में प्रदर्शित अर्थप्रकृति तथा कार्यावस्था के पथ रूपी मार्ग का अनुसरण करना आवश्यक है।

15.6 शब्दावली

- सानुबन्धम् — अनुबन्ध के साथ। दूर तक साथ चलना अथवा फल।
त्रिवर्गः — धर्म, अर्थ तथा काम।

- अर्थप्रकृतिः – अर्थः फलं तस्य प्रकृतिः उपायः इति अर्थप्रकृतिः, अर्थात् फल
की सिद्धि का उपाय।
- प्रासङ्गिकम् – प्रसङ्गात् निर्वत्तम् = प्रासङ्गिकम्। प्रसङ्ग से होने वाला।
- प्रदेशभाक् – एक प्रदेश में रहने वाली।

15.7 सहायक ग्रन्थ

1. धनंजय, दशरूपकम्, व्याख्याकार— डॉ. भोलाशङ्कर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 221001
2. धनंजय, दशरूपक, व्याख्याकार— डॉ. श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ।
3. भरत, नाट्यशास्त्रम् (अभिनवभारती—सहितम्) चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 221001
4. भामह, काव्यालङ्कार, निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई।
5. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. पृथ्वीराथ द्विवेदी, भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा और दशरूपक, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
6. श्रीहर्ष, रत्नावली नाटिका, साहित्य भण्डार, मेरठ।

15.8 बोध प्रश्न

- क) अर्थप्रकृति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसके भेदों का भी वर्णन कीजिए।
- ख) कार्यावस्था के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
- ग) कार्यावस्थाओं के भेदों का सोदाहरण वर्णन कीजिए।
- घ) रूपकों में अर्थप्रकृति की उपयोगिता का प्रतिपादन कीजिए।
- ङ) कार्यावस्था के महत्व का उल्लेख कीजिए।